W. 165
10-3184

३३
ठहरी हुई

65

ॐ

श्रीक्रमनयप्रदीपिका

ईश्वरपर्वतनिवासिना राजानकलद्दमणेन
संपादिता।

234
A

गुप्तगंगा काश्मीर

सं० ई० १९५८ विक्र० २०१५ ... ...

ठहरी हुई

no: 165
10.3.

श्रीक्रमनयप्रदीपिका

ईश्वरपर्वतनिवासिना राजानकलक्ष्मणेन
संपादिता।

गुप्तगंगा काश्मीर

सं० ई० १९५८ विक्र० २०१५ ... ... मूल्य १ रुपया ८ आने

मुद्रक : आर० सी० प्रिंटिंग प्रैस, जम्मू ।

"I Bow"

bow to Swargvasi Rajanak Narain Dass alias "Naw Naran," the Lord of Boats" (the then master of all houseboats in Kashmir) and Swargvasi Shrimati Arni Devi the illustrious parents, to whom was born my reverend master Yogi Ishwer Saroop on Baisakh Krishna Dwadashi Samvat Bikrami 1963.

I bow to Swargbasi Mahatma Shri Ramji and Swargbasi Mahatma Shri Mehtab Kak who initiated my master into the practical realms of Shivagama Yoga.

I bow to Rajanak Maheshwara, the learned and practical Shaivist who taught all the Shiva Shastras to my master in theory and explained the same in practice.

(4) I bow to the chain of Shaivist Gurus from Durwasa, Trembka, Vesugupta, Somananda, Utpalacharya, Abhinava-Gupta, Kshemraja and others who have experienced themselves in the experiencer and handed over their experience for the good of mankind to the world.

(5) Out of this chain I once again bow to the great Abhinava Gupta who stored the real knowledge in the great classic "Tantra Loka Shastra."

(6) I bow to the "Trantra Loka Shastra" and within its pages to its kernel the "Kramastotra" in which are explained in a nutshell all the twelve stages of the Shiava-Yago, each stage whereof, individually as well as collectively, is the direct way to experience both the experiment and the experiencer as one in the experience itself.

(7) Last but with all possible reverence I bow to Rajanak Lakhsman my Ishwer Saroop "the Abhinava Gupta of 20th Centnry" who for the good of his disciples and all the "janta" has taken great pains to explain this great Kramastotra in pure and lucid Hindi and is also busy in explaining in hindi many other Shaiva shastras which the admirers of this great monoistic philosophy of Kashmir will receive by and by.

(8) I bow to his chief disciples Sharika Deviji and Prabha Deviji both of whom are creditable, for the help they render Swamiji, in the service of this great system.

(9) I bow to all those lucky people into whose hands this precious book will come, who are sure to be benefitted by the grace of the Lord while reciting and understanding it.

(10) O.' my master do accept my humble bow as I have got nothing else to offer and.

I am,

Your humble sewak.
"Din"

ठहरी हुई

प्राक्कथन

आचार्य अभिनवगुप्त जी द्वारा रचित श्रीतंत्रालोक में बारह का वर्णन अतिरहस्य-पूर्ण रीति से किया गया है। इस ग्रन्थ के चौथे (शाक्तोपाय) में यद्यपि ग्रन्थकार ने इस विषय पर एक विशद प्रकर रचना की है, तथापि विषय के गम्भीर होने के कारण प्रायः जि जन उसे समझने से वञ्चित ही रहते हैं। हम ने दयालु गुरुमह की छत्रछाया में बैठ कर कई बार इस प्रकरण को पढ़ा, सोचा तथा मे भी किया, किन्तु फिर भी इन बारह कालियों का महत्व, इन उपयोगिता एवं इन का वास्तविक मर्म क्या है? यह न समझ पाये कई वर्षों से महाराज जी से इस विषय को पूर्ण रूप से समझाने की प्रार्थ करने पर भी हमारी प्रार्थना कभी फलीभूत न हो पाई!

अस्तु; १९५८ ई० की शिशिर ऋतु में महाराज जी ने अकस्मात् मौनव्रत करने का निश्चय किया। वे लगभग ढाई मास एकान्तवास में रहे। इसी अवधि के प्रथम बीस दिनों में महाराज जी ने लोगों के हितार्थ इस अपूर्व तथा उपयुक्त ग्रन्थ की रचना की है।

यह तो मानी हुई बात है कि कश्मीर-देश सदा से महान् शैवी महात्माओं को जन्म देता आया है। वे महात्मा न केवल शास्त्रज्ञ ही थे अपितु पूर्णतया ब्रह्मनिष्ठ भी थे। ऐसी महान् विभूतियों ने भी कभी कदापि इस विषय की सविस्तृत व्याख्या करने का प्रयास न किया। वे केवल-मात्र स्वयं पाठ के रूप में इन बारह कालियों के श्लोकों को पढ़ा करते थे और शिष्यों को भी इस का पाठ करने की शिक्षा दिया करते थे। अतः फल यह हुआ कि इन द्वादश-कालियों का महत्व केवल-मात्र इने गिने शैवी पाठकों तक ही सीमित रहा।

महाराज जी ने, "यह महत्व-पूर्ण विषय कहीं लुप्त न हो जाये"—इस आशंका से इस सुन्दर ग्रन्थ की रचना की है। अतः महाराज जी की अपूर्व कृपा से यह ग्रन्थ जिज्ञासु-जनों की उत्कट जिज्ञासा को शान्त करता हुआ उन महानुभावों के सन्मुख उपस्थित हो रहा है, जो किसी भी अंश में शिव-शक्तिपात से आघ्रात बने हुए हैं।

इस छोटे से ग्रन्थ में प्रथम काली शब्द का निर्णय, उस की
और उस का वास्तविक तात्पर्य समझाने का प्रयत्न किया गया
के साथ ही श्रीतन्त्रालोक में कहे गये उन श्लोकों का भी
हुआ है जो कालिकास्तोत्र के प्रकरण में वर्णित हुए हैं। उन
का भी हिन्दी अनुवाद किया गया है। इस के अतिरिक्त प्रथम-प्रकाश,
-प्रकाश और तृतीय-प्रकाश के शीर्षक रख कर साथ ही प्रथम-विकास,
-विकास आदि के शीर्षक रखे हैं। ऐसा करने का प्रयोजन यही
वास्तव में श्रीसंविद्देवी का ही विकास काली भगवती के रूप में
सत हुआ है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ की सार्थकता एवं
पयोगिता का तभी परिचय मिल सकता है, जब इस के पाठक इस
अध्ययन से अंश-मात्र भी आत्मिक लाभ उठा सकेंगे, तभी महाराज
का यह प्रयास सार्थक सिद्ध होगा। ओं।

विद्वज्जन—कृपाभिलाषिणी

प्रभा देवी

ईश्वराश्रम
२० मई १९५६।

ॐ

* श्री क्रमस्तोत्र *

कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपा-
मुन्मेषमेषोभयभ्रमन्तः ।
निलीयते नीलकुलालये या
तां सृष्टिकालीं सततं नमामि ॥ १ ॥

महाविनोदार्पितमातृचक्र-
वीरेन्द्रकासृग्रसपानसक्ताम् ।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां
नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ॥ २ ॥

वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्र-
प्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम् ।
शुचिर्ययास्तं गमितोऽर्चिषा तां
शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम् ॥ ३ ॥

सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्थ
यमस्म यन्तुर्जगतो यमाय ।
बपुर्महाग्रासविलासरागात्
संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ॥ ४ ॥

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा
या भावसंहारनिमेषमेति ।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां
संहारकालीं मुदितां नमामि ॥ ५ ॥

ममेत्यहंकारकलाकलाप-
विस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः ।
ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां
नमामि कालोदितमृत्युकालीम् ॥ ६ ॥

विश्वं महाकल्पविरामकल्प-
भवान्तभीमभ्रकुटिभ्रमन्त्या ।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां
नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम् ॥ ७ ॥

मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं
पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय ।
करोति या विश्वरसान्तकां तां
मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि ॥ ८ ॥

अस्तोदितद्वादशभानुभाजि
यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव ।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति
तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम् ॥ ९ ॥

कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र-
क्रोड़ीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः ।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां
तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥ १० ॥

नक्तं महाभूतलये श्मशाने
दिग्खेचरीचक्रगणेन साकम् ।
कालीं महाकालमलं प्रसन्तीं
वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम् ॥ ११ ॥

क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्र-
सञ्चारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरवघोरचण्ड-
कालीं कलाकाशशशाङ्ककांतिम् ॥ १२ ॥

ठहरी हुई

ॐ

श्रीक्रमनय-प्रदीपिका

अव्ययमकुलमभेयं
विगलितसदसद्विवेककल्लोलम् ।
जयति प्रकाशविभव-
स्फीतं काल्याः परं धाम ॥ १ ॥

काली भगवती का जो परमतेज अविनाशी है, विश्वात्मा होने के कारण जिस का कोई रूप नहीं है, प्रमातृरूप होने से जो किसी भी अवस्था में प्रमेय नहीं बनता; तथा जिस तेज में सद्रूपता एवं असद्रूपता का आभास संपूर्णरूपतया समाप्त हो हुआ है, उसी प्रकाश-विमर्श-रूप से स्फुट बने हुए काली देवी के परमतेज की जय हो।

ॐ

श्रीकालिकाभगवत्यै नमो नमः ।
परभैरवाय नमः ।

प्रस्तुत विषय को प्रारम्भ करने से पूर्व जिज्ञासुजनों के हितार्थ यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि इस कालिकाशास्त्र को क्रमशास्त्र क्यों कहते हैं। वास्तव में शैव सिद्धान्त के आधार पर क्रम, काल का ही पर्यायवाची शब्द है। प्रत्यभिज्ञाकार श्रीमान् आचार्य उत्पलदेव जी ने "काल" की परिभाषा इस रीति से की है—

लः सूर्यादिसञ्चार-

स्तत्तत्पुष्पादिजन्म वा ।

शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः

क्रम एव स तत्त्वतः ॥

अर्थात् सूर्य आदि नक्षत्रों का सञ्चार, या वसन्त आदि ऋतुओं में भिन्न भिन्न प्रकार के फूलों का जन्म लेना — इस प्रकार के को काल कहते हैं। इस के अतिरिक्त कभी शीतकाल होना और कभी उष्णकाल का होना भी काल को ही दर्शाता है। दृष्टि से काल, क्रम को ही कहते हैं।

एवं काल के संबन्ध में जितने भी नय यानी शास्त्रों की रचना की गई है, उन्हें कालीशास्त्र या क्रमशास्त्र के नाम से विभूषित किया गया है। अतः इसी रीति का अनुसरण करते हुए इस छोटे से ग्रन्थ का नाम भी क्रमनयप्रदीपिका रखा है। कारण यह कि इस में पाठकों की सुविधा के लिए कालीशास्त्र पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जायेगा।

ठहरी हुई

प्रथम प्रकाश

"काली" शब्द "कल" धातु से बना है। इस धातु का कालीन आचार्यों ने निम्न-लिखित पांच अर्थों में प्रयुक्त किया है -

१. कल क्षेपे। २. कल गतौ (ज्ञाने)
३. कल संख्याने। ४. कल गतौ (प्राप्तौ च)
५. कल शब्दे।

१ — कल क्षेपे

प्रथम क्षेप अर्थ में कल शब्द को लीजिए। क्षेप का अर्थ फेंकना यहां फेंकना क्या अर्थ रखता है? इस को स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार सकते हैं—

"कलयति—स्वात्माभेदेन स्थितं प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपं विश्वं भावेनोल्लासयतीति परा संविद्देवी काली—इत्युच्यते"।

अर्थात् अपने ही स्वरूप में स्थित प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय-रूप जगत को, जो अपने स्वरूप से बाहर यानी भिन्नरूपता से दिखाती है, उसे काली कहते हैं।

अतः इस प्रथम अर्थ के आधार पर "काली" परसंवित्-देवी का ही पर्यायवाची शब्द माना जाता है।

२ — कल गतौ (ज्ञाने)

कल धातु ज्ञान के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। ज्ञान से यहां क्या तात्पर्य है — इस को स्पष्ट शब्दों में यूं कहा जा सकता है —

"कलयति — स्वात्मबहिर्भावेनावभासितमपीदं मातृमानमेयात्मकं जगत् स्वात्माभेदेनैव परामृश्यतीति परैव संविद्-देवी काली—इत्युच्यते"॥

अर्थात् अपने स्वरूप से भिन्न देखने में आये हुए जगत को भी जो, अपनी ही अन्तर्गता स्वातंत्र्यशक्ति से पुनः स्वस्वरूपमय ही परामर्श करती है, काली कहलाती है। अतः इस दूसरे अर्थप्रयोग से भी परसंविद्देवी ही काली कही जा सकती है।

३ — कल संख्याने

धातु का तीसरा अर्थ, संख्यान यानी विकल्प करने के रूप किया जाता है। अब यहां किस प्रकार के विकल्प से प्रयोजन स्पष्ट शब्दों में समझाते हैं—

एवं कलयति—भेदितमपि मातृमेयादिकं जगदूपमर्थं परस्परापोहनात् घटः, न पटः' इति प्रतिनियतरूपतया अवस्थापयति - इति परैव ी संवित् - काली - इत्युच्यते ।

अर्थात् इसी भांति जो प्रमातृप्रमेयादिरूप जागतिक पदार्थों को अपने ातंत्र्य द्वारा स्वरूप से विलग ठहरा कर पुनः एक दूसरे के ज्ञान भी वंचित रखती है और नियतरूपतया यानी "यह पदार्थ घट ही पट नहीं"— इस प्रकार का नियमन करती है, वह भी परा संविद् ावती के रूप में काली कही जाती है ।

४ — कल गतौ (प्राप्तौ च)

चतुर्थ अर्थ कल धातु का, प्राप्ति के अर्थ में लागू होता है। प्राप्ति में ा दूसरे शब्दों में रूढ होना या पहुँचना भी कह सकते हैं। यह प्राप्ति जायेगा है— इस को सुव्यक्त रूप से कहते हैं :—

" कलयति — यया मातृमानमेयात्मको भेदितोऽर्थः स्वसंवित्ति-मकुरे स्वात्मव्यतिरिक्तत्वेऽपि अव्यतिरेकेण स्वरूपारोहितत्वेनैवावस्थापयतीति परा कालसंकर्षिणी देवी काली—इत्युच्यते "

अर्थात् जो स्वात्मदर्पण में ठहरे हुए जगत के भिन्न होने पर भी उस जगत को अभिन्न यानी स्वात्मरूपतया ही संस्थापित करती है, वही कालसंकर्षिणी संविद् भगवती काली कही जाती है।

५ — कल शब्दे

पाञ्चवां अर्थ कल धातु का 'नाद करना' - इस अर्थ में लिया जाता है। नाद से क्या तात्पर्य हो सकता है — इस को समझाते हैं—

" कलयति —समस्तानामविकल्प-सविकल्पादीनां ज्ञानानां सृष्टिस्थिति-संहारतिधानानुग्रहात्मकपञ्चकृत्यत्वानुसंधानेन स्वात्मपरामर्शशेषतयैव सर्वं परामृश्यतीति पैरव संवित् काली — इत्युच्यते "

जो अप्रतिहता पराभगवती निर्विकल्प तथा सवि ठहरी हुई ज्ञान का परामर्श पाञ्च-कृत्य (सृष्टि - स्थिति - संहार - ति अनुग्रह) के रूप में करती है, तदनन्तर उस संपूर्ण ज्ञान को स्वरूप - परामर्शात्मिका तुरीयसत्ता में लवलीन बनाती है, वही से अलङ्कृत की जाती है। तात्पर्य कहने का यह है कि—

" इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा ।
देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते" ॥ तं० लो० ४

इस तंत्रालोक के उपदेश के अनुसार उपरोक्त पांच प्रकार की को करने वाली यही कालकर्षिणीरूपा परा संविद् भगवती काली कहलाती है।

" मातृसद्भावसंज्ञास्या -
स्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु
एतादृदन्तसंवित्तौ
प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत् " ॥ तं० लो० ॥ ४ ॥ १७७ ॥

उपरोक्त श्लोक में काली भगवती को "मातृसद्भाव" इस अन्य नाम से भी विभूषित किया गया है। कारण यह कि इसी काली देवी की सत्ता का आश्रय लेने से समस्त भाववर्गात्मक जगत की प्रमातृता अर्थात् ज्ञप्ति का भान स्फुट होता है। निशाटन आदि शास्त्रों में इसे 'वामेश्वरी' का नाम - करण दिया गया है, यतः यही देवी सर्वसंहरणात्मक अपने रौद्र अर्थात् भयंकर क्रम को त्याग कर सर्व-आह्लादप्रद क्रम को ग्रहण करने के कारण वामेश्वरी यानी त्रिपुरसुन्दरी के रूप में प्रकाशित है।

ऊपर वर्णित पांच प्रकार की कलना से संपन्न बनी हुई इस काल-संकर्षिणी काली भगवती की दो अवस्थायें मानी गई हैं। पहली अवस्था वह है, जहां इसे अपने स्वरूप का संकोच रहता है। इस स्वरूप-संकोचात्मक दशा में इसे " अनाख्यरूपा " नाम से ही वर्णित किया है। स्मरण रहे कि यह अनाख्य और स्वरूप-संकोचमय दशा एक ही है। इस अवस्था की प्राप्ति पर अणु-मात्र भी द्वैत की संभावना नहीं रहती। इसी को दूसरे शब्दों में विश्वोत्तीर्ण अवस्था भी कहते हैं।

काली भगवती की दूसरी अवस्था "स्वरूपविकासात्मक" है। इस दशा में स्वरूप-प्रथनात्मक स्थिति होते हुए भी जगद्वर्त्ती तथा उपभेदों की उत्पत्ति होती रहती है। शास्त्रों में इसी को "विश्वमय" के नाम से वर्णित किया है।

यद्यपि हमारे सर्व आचार्यों का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि दोनों अवस्थाओं के स्वरूप-चमत्कार में नाम-मात्र भी न्यूनाधिक्य नहीं रहता, तथापि शैव-आचार्यों ने विकासात्मक विश्वमय अवस्था को सर्वोपरि माना है। इस कथन की पुष्टि पञ्चस्तवी के निम्नलिखित श्लोक से भी होती है —

संकोचमिच्छसि यदा गिरिजे तदानीं
वाक्तर्कयोस्त्वमसि भूमिरनामरूपा ॥
यद्वा विकासमुपयासि यदा तदानीं
त्वन्नामरूपगणनाः सुकरी भवन्ति ॥

अर्थात् हे पार्वती! जब आप अपने स्वरूप का संकोच करना चाहती हैं, तब आप का स्वरूप अनुल्लेख्य हो जाता है, अर्थात् नाम रूप की कलना से अतीत बनता है। साथ ही वह स्वरूप, वाणी एवं मन का विषय न बन कर उस से दूर बहुत दूर चला जाता है। इस के उलट जब आप अपने स्वरूपविकासात्मक अवस्था को प्राप्त करती हैं, तो उस दशा में ध्यान करने से भक्त-जन आप के स्वरूप को सहज ही प्राप्त करते हैं।

अतु; परा संविद्देवी की यही विश्वमय स्वरूपविकासात्मक दशा कुल बारह स्वरूपों में विभक्त हुई है। काली भगवती के यही बारह रूप समस्त विश्ववर्ती स्वरूपों के द्योतक हैं तथा इन्हीं से काली देवी की असंख्यरूपता का अनुमान भी लगाया जाता है।

ठहरी हुई

द्वितीय प्रकाश

अब शंका यह होती है कि काली भगवती की जगद्रूपता करने के लिए केवल बारह रूप ही क्योंकर माने गये हैं, ग्यारह क्यों नहीं माने हैं। इस का समाधान शास्त्रकार इस करते है —

उन का कहना है कि वास्तव में जगद्रूपता निम्नलिखित ही वर्गों में विभक्त हुई है —

प्रमितिवर्ग, प्रमातृवर्ग, प्रमाणवर्ग, और प्रमेयवर्ग।

[१] प्रमितिवर्ग उस प्रमातृवर्ग को कहते हैं, जो ग्राह्य ग्राहक-भाव से अतीत हो और साथ ही

"ज्ञातोऽयं मयार्थः"

इस कथन के अनुसार प्रमाणफलदशाधिशायी बना हुआ हो। यह अवस्था ग्राह्यग्राहकसंक्षोभशून्य केवल अपने ही उपाधि-रहित (प्रमेय द्वारा स्वरूप में प्रकाशित होती है। दूसरी दृष्टि से यही अवस्था जगद्रूपता का प्रथमाङ्कुर है। इसी के प्रसरणात्मक वेग से जगत के प्रकट होने की संभावना होती है। इस अवस्था में प्रमाता संपूर्णरूपतया प्रमा में ही विलीन बना हुआ रहता है। इस प्रमितिवर्ग को चतुर्दल-चक्र भी कहते हैं, क्योंकि इस में नीचे दिये गये कुल चार चक्र माने गये हैं—

देवी त्रय—(परा, परापरा, अपरा) और भातृसद्भाव। मातृसद्भाव कहने का यही प्रयोजन है कि इस अवस्था में उपरोक्त तीन परा आदि देवियां तो शक्तिरूपतया स्थित हैं ही, किन्तु इनके साथ ही शिवरूप परप्रमाता भी शक्ति-रूप बन कर ही ठहरा है। इस दशा में वह शिव अपने शक्तिमत्वात्मक अर्थात् शिवात्मक विकास को नहीं प्राप्त होता है। इसी लिये चतुर्दल-चक्रात्मक प्रमितिवर्ग को अनाख्यरूप भी कहते हैं।

ब यह प्रमातृवर्ग जगद्रूपता की स्थूलता में प्रसर करता है, तब
प्रमस्थान बने हुए प्रमितिवर्ग को लेकर ही प्रसरित होता है। इसी
न वर्गों की कलायें पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक बढ़ने लगती हैं।
में समस्त प्रमाताओं का समूह, जागतिक भोगों को भोगता है।
, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के रूप में विद्यमान हैं।
अग्नि का रूप माना गया है। कहा भी है—

योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं
प्रमातुरिदमेव तत्।

अर्थात् अग्नि का जो स्वरूप माना जाता है, वही प्रमाता का भी माना गया है। अतः अग्नि और प्रमाता में तिल-मात्र भी नही है। कलाओं की दृष्टि से अग्नि की आठ कलायें मानी गई हैं। आठ कलायें प्रमाता की भी मानी जाती हैं। ये कलायें अपने मातृरूप में ठहरने के हेतु संहार-प्रधान मानी गई हैं। उन कलाओं के नाम ये हैं—

जाये प्रमितिवर्ग जिस का नामान्तर अनाख्य-चक्र भी है; उस से प्रसरित देवीत्रय और मातृसद्भाव इस प्रमातृवर्ग में कुलेश्वरी और देवीत्रय रूप में परिणत हुआ है। इस के साथ ही प्रमातृवर्ग का भैरवत्रय और कुलेश्वर भी इसी वर्ग में संकलित किया जाता है। ये ही कुल आठ कलायें बनती हैं। पाठकों की सुविधा के लिए इन के नाम और भी स्पष्टरूपता से नीचे लिखे जाते हैं—

देवीत्रय—१ परा, २ परापरा, ३ अपरा, ४ कुलेश्वरी, —जिसे मातृसद्भाव भी कहते हैं। भैरवत्रय—५ पर, ६ परापर, ७ अपर और, ८ कुलेश्वर।

उपरोक्त प्रमातृवर्ग नामी संहारचक्र में आठ कलाओं का अन्तर्भाव होने से इसे अष्टारचक्र कहते हैं।

[३] प्रमाणवर्ग में समस्त इन्द्रिय गण अंगीकार किये जाते हैं। ये ही इन्द्रियाँ शब्द आदि जगत- संबन्धी भोगों के भोगने में साधन बनी हुई हैं। वास्तव में इन इन्द्रियों की गणना बारह मानी गई है। जिन के नाम ये हैं:—

पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि। अस्तु, इ ठहरी हुई वर्ग को शास्त्रकारों ने सूर्यात्मक माना है, कहा भी है—

"सूर्य प्रमाणमित्याहुः"

अर्थात् सूर्य ही प्रमाण कहलाता है। कारण यह कि सू कलायें बारह मानी गई हैं और उपर ऊपर वर्णित प्रमाण की बारह कलायें कही गई हैं। ये कलायें स्थिति-प्रधान मानी गई हैं, क्य ये अपने आन्तरिक एवं बाह्य स्वरूप में विकास-पूर्ण बनी रहती हैं। प्रमाणवर्ग के स्थितिचक्र में प्रमिति तथा प्रमाता की अपनी अपनी कलाओं का भी संमिश्रण रहता है, अतः इस रूप से भी कलायें मि कर कुल बारह ही बनती हैं। इन का विवरण निम्नप्रकार से है:—

प्रमितिवर्ग (अनाख्य-चक्र) की चार कलायें, यानी अव्यक्त देवी-त्रय और मातृ-सद्भाव।

प्रमातृवर्ग (संहार-चक्र) की चार कलायें यानी भैरव-त्रय और कुलेश्वर।

तथा प्रमाणवर्ग (स्थिति-चक्र) की भी चार कलायें यानी व्यक्ताव्यक्त देवी-त्रय और मातृसद्भाव।

संकलन करने पर ये कलायें बारह बनती हैं। अतः इस प्रमाण-वर्ग रूपी स्थितिचक्र को द्वादशारचक्र भी कहते हैं।

[४] चौथे प्रमेयवर्ग की इस श्रेणी में, सभी प्रकार के विषय, जिन की उपलब्धि शब्द, स्पर्श आदि में पाई जाती है, अंगीकृत किये गये हैं। इन्हीं शब्दादि विषयों का आस्वादन प्रमाण-दशा में प्रमाता करता है। इस प्रमेयवर्ग को सोम-रूप माना गया है, कहा भी है:—

"सोमं मेयं प्रचक्षते"

अर्थात् चन्द्रमा ही प्रमेय कहलाता है। जहां सोम की सोलह कलायें मानी जाती हैं, वहां प्रमेय को भी षोडशकला का नाम-करण दिया जाता है। इस रूप से ठहरी हुई प्रमेय-संबन्धि ये सोलह कलायें अपनी

तक विकास को प्राप्त करके बाह्य-प्रसर की समाप्ति कर देती सृष्टि के विकास की पार्य्यन्तिक सीमा होने के कारण इस को सृष्टि-प्रधान ही माना गया है।

इस प्रमेयवर्ग में — प्रमिति, प्रमातृ और प्रमाणवर्ग की चार चार का विकास भी बना ही रहता है। इन बारह कलाओं के अति- प्रमेय-वर्ग संबन्धि — व्यक्त देवी-त्रय और मातृ-सद्भाव इन चार कलाओं दय भी होता ही है। अतः इस प्रमेय-वर्ग अथवा (सृष्टि-चक्र) ल सोलह कलायें बनती हैं। इसी लिये इसे षोडशारचक्र भी कहते

इस प्रकार से कलाओं के न्यूनाधिक्य को देख कर पाठक-जन इन वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का भी अन्तर न मानें। कारण कि तथ्यरूप से इन तीनों वर्गों का स्वरूप वास्तव में एक ही है। केवल-मात्र अन्तर इतना ही है कि प्रमिति-वर्ग में ये कलायें अव्यक्तरूप में स्थित हैं प्रमाणवर्ग में व्यक्ताव्यक्त हैं और प्रमेयवर्ग में व्यक्तरूप मानी जाती हैं। इन तीन वर्गों में प्रमातृ-वर्ग की गणना इस लिये नहीं की गई क्योंकि उस में शक्तिप्रधानता नहीं है, तभी तो प्रमातृगत चार कलायें— भैरवत्रय और कुलेश्वर— इस प्रकार पुँल्लिङ्ग में ही कही गई हैं।

अस्तु; उपरोक्त कथन पर पुनः विहंगम दृष्टि दौड़ाते हुए यह बात सिद्ध हुई कि संविद् रूप काली देवी की जो स्वरूपविकासमय दशा है, वही जगत् रूप बनकर हमारे सन्मुख उपस्थित है। वह जगत भी उपरोक्त कथनानुसार प्रमिति-प्रमातृ-प्रमाण और प्रमेय— इन चार वर्गों में विभक्त हुआ है।

स्मरण रहे कि प्रमितिवर्ग-चतुर्दल, प्रमातृवर्ग-अष्टदल, प्रमाणवर्ग-द्वादशदल और प्रमेयवर्ग षोडश-दलचक्र से युक्त माना गया है। इस के साथ ही यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि इन चार वर्गों में से पहिला प्रमितिवर्ग स्वरूपविकास-दशा का प्रथमाङ्कुर माना गया है इत्यतः इस वर्ग में जगद्रूपता मनागमात्र भी प्रादुर्भूत नहीं हुई है।

अब प्रश्न यह है कि जो प्रमातृ, प्रमाण तथा प्रमेयरूप अवशिष्ट तीन वर्ग हैं, उन की गणना संसार-चक्र में क्यों कर नहीं की गई है। केवल-मात्र प्रमाणगत द्वादशदलात्मक चक्र की ही प्रधानता संसार-दशा में क्यों मानी गई है, जब कि प्रमातृगत अष्टारचक्र और प्रमेयगत षोडशारचक्र भी जगद्रूपता का ही प्रदर्शन करते हैं। अतः देवी की

जगद्रूपता सिद्ध करने के लिये केवल प्रमाणगत द्वादशार पर्याप्त हो सकता है?

> प्रमाणगतचक्र में ही प्रमातृगत तथा प्रमेय-गतचक्रों के अन्तर्भाव का प्रदर्शन॥

इस का समाधान यूँ हो वास्तव में इस अनुत्तर शैव - परसंविद्रूप प्रमाता भेदरूप इन्ध जलाने वाला होने से अग्निस्वरूप ही है। पहिले भी हम कह आये कि—

"योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं
प्रमातुरिदमेव तत्।"

इस रीति से वही अहंप्रकाशात्मा प्रमाता अपनी ही स्वातन्त्र्य से पूर्व सूचित— ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि— इन बारह इ का स्वरूप बन कर प्रमाण-दशा को प्राप्त हुआ बारह-कला-संपन्न कहलाता है। यतः यह सूर्यरूप बनी हुई प्रमाण-दशा तो तत्त्वदृष्टि से प्रमे का ही बहिर्मुख रूप है। अतः "प्रमाणदशा में ही प्रमाता का अन्तर्भाव पूर्णरूप से विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि प्रमाण-ज्ञान को कहते हैं, उ ज्ञान की सत्ता चूँकि ज्ञेयरहित कदापि संभव नहीं हो सकती, अत इस सिद्धान्त को समक्ष रख कर इसी "प्रमाणदशा में प्रमेय का भी अन्तर्भाव" निर्विवाद-सिद्ध है। अभिप्राय यह है कि इस प्रमाणरूप सू में न केवल प्रमातृरूप अग्नि का ही समावेश है, अपितु प्रमेयरूप सो भी इसी प्रमाणरूप दशा में अन्तर् निहित है। इस लिये जगद्रूपता का पूर्ण विकास प्रमाणदशा में ही पाया जाता है। उपरोक्त कथनानुसार वह प्रमाणदशा द्वादशकलात्मक बारह स्वरूपों से युक्त कही गई है। ये ही बारह स्वरूप क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में द्वादशकालि के रूप में आदर पूर्वक स्तुति किये गये हैं।

शैव-योगी प्रमाण संबन्धि मायात्मक वेद्यवेदकसंक्षोभदशा में भी कैसे पर-प्रमातृभावात्मक स्वरूपप्रथनदशा को सहज ही प्राप्त कर सकता है-- इसी अभिप्राय से संसारचक्र के पूर्णविभव-स्थान बनी हुई संसारदशा में ही द्वादशकालियों के स्वरूपों का प्रदर्शन क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में किया गया है। इसी रहस्य दृष्टि को लक्ष्य करके सभी शैव-आचार्यों ने ग्राह्य-

व्यवहारदशा में ही परतत्त्वप्राप्ति की विधि सुचारू रूप से आचार्य उत्पलदेव जी भी कहते हैं—

नाथ वेद्यक्षये केन
न दृश्योऽस्येककःस्थितः ।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽ–
प्यसि भक्तैः सुदर्शनः ॥ उ० स्तो०, १, ८ ।

अर्थात् हे स्वामी ! घटपटादि वेद्यों के योग द्वारा नष्ट होने पर भाव में स्थित आप के स्वरूप को कौन नहीं देख सकता है ? सबों आप वैसे दिखाई देते हैं। परन्तु ग्राह्यग्राहकभावात्मक संक्षुभित विकल्प- में भी आप भक्तजनों को सुखपूर्वक ही दिखाई देते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि समाधिदशा में यद्यपि योगी को भेदप्रथनात्मक दशा सहज ही अनुभूत होती है, तथापि व्युत्थानाभिमत में जगत में आकर उस योगी को अन्य सांसारिक जनों की तरह ही भिन्नरूपता से प्रत्येक पदार्थ दिखाई देते हैं अर्थात् वह उस अवस्था में आत्मानुभूति से गिर जाता है।

अस्तु, वास्तव में चरम सीमा यही मानी गई है, कि जब योगी को व्युत्थानदशा में भी स्वात्मप्रथा का विकास होने लगता है, तब उस योगी को परप्रमातृभावात्मक अपने स्वात्मविमर्श से कदापि च्युति नहीं हो सकती। कहा भी है—

" समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः ।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः ॥ ,,

अर्थात्—यह जो दुर्भेद्य भेदरूपी पर्वत स्थित है, इसे योगी-जन समाधिरूपी वज्रपातों से भी नहीं तोड़ सकते। किन्तु पराभक्ति से सुशोभित पुरुष उसी भेदप्रथनात्मक पर्वत को भेदप्रथारूप अवस्थाओं में ही स्वात्मपरामर्श के द्वारा नष्ट करते हैं। पूर्व आचार्यों ने इसी अवस्था को विकास-समाधि के नाम से विभूषित किया है। इसी अवस्था को श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने आदरपूर्वक जगदानन्द के नाम से वर्णित किया है। यहाँ यह जतलाना अप्रासंगिक न होगा कि यह जगदानन्द-अवस्था चिदानन्द आदि अन्य समस्त आनन्द-दशाओं से अत्युत्कृष्ट मानी

गई है। क्योंकि इस अवस्था के प्राप्त होने पर योगी को व्युत्थान की एकता हो जाती है। इसी अवस्था को पूर्व ठहरी हुई निर्व्युत्थान-समाधि के नाम से विभूषित किया है। इस जगदा का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त जी ने तंत्रालोक में निम्नलिखि किया है—

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो
नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत् ।
यदनाहतसंवित्ति–
परमामृतबृंहितम् ॥
यत्रास्ति भावनादीनां
न मुख्या कापि संगतिः ।
तदेव जगदानन्द–
मस्मभ्यं शम्भुरूचिवान् ॥ तं० लो०, ५.५० ।

अर्थात् जिस दशा में किसी प्रकार का स्वरूप-अवच्छेद नहीं रह जहाँ स्वात्मचमत्कृति सर्वतः अनुभवगोचर होती है, जो अवस्था पुर्णाहन्तात्म आनन्दरस से परिपूर्ण बनी हुई है, तथा जहाँ ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि साधनों के सेवन करने का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है— उसी अवस्था को हमारे गुरुदेव श्रीशम्भुनाथ जी महाराज ने जगदानन्द के नाम से विभूषित किया है। विशेषरूपता से इस अवस्था को समझने के लिये स्वानुभव एवं गुरु-कृपा का होना नितान्त आवश्यक है अतः इस की अनुभूति के लिये गुरुदेव की सपर्या निष्कपटरूपता से करनी चाहिये ॥ ॐ ॥

तृतीय प्रकाश

पूर्वोक्त कथनानुसार यह बात सिद्ध हुई कि परप्रमातृरूप
प्रमेय," प्रमाण और प्रमातृपद में सृष्टि, स्थिति, संहार और अना
का आश्रय लेकर ही अपने स्वरूप का विकास करती है। इस
प्रमेय आदि तीन वर्गों में सृष्टि आदि चार चक्रों के गुणन करने
कुल बारह अवस्थायें बनती हैं।

यद्यपि पराभगवती की ये बारह अवस्थायें विश्व की समस्त हानादा
क्रियाओं में विद्यमान ही हैं, तथापि संसारी जीव अल्पज्ञता से ही
विश्ववर्त्ती अवस्थाओं में सजग न रहने के कारण इन स्वरूपचमत्कारात्
अवस्थाओं के आनन्दानुभव से वंचित ही रहते हैं। इन जगद्वर्ती स्वरू
लाभप्रद अवस्थाओं में किस प्रकार से मनुष्य सजग यानी उद्यत रह
सकता है— इसी का प्रदर्शन करने के अभिप्राय से द्वादश-कालियों के स्वरूपों
का वर्णन क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में किया है। आचार्य श्री अभिनवगुप्त जी
ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीतंत्रालोक में इस विषय को समक्ष रख कर
कहा है—

" इत्यजानन्नैव योगी
जानन्विश्वप्रभुर्भवेत् ।
ज्वलन्निवासौ ब्रह्माद्यै—
र्दृश्यते परमेश्वरः" ॥ तं०, ४ आ०, श्लो० १४४ ॥

अर्थात् साधारण कोटि का योगी अपने को कितना ही योगपरायण
क्यों न माने, यदि इस परा-स्थिति की द्वादशरूपता से पूर्णरूपेण अनभिज्ञ
है, तो वह योगी, वास्तव में योगी नहीं माना जा सकता। इस के
विलोम जो इन अवस्थाओं को यथार्थरूपता से जान लेता है, वही जगत्-

...ता है। क्योंकि सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्यचक्रों के ... से देदीप्यमान् प्रकाशस्वरूप शिव-तुल्य बना हुआ ऐसा ...र्थरूप से स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है और अन्य ... में इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये स्वात्मीय पुरुषकार ...ार अकिंचित्कर है। केवल परमेश्वर का तीव्रतम शक्तिपात एवं ...ही इस अवस्था का अनुभव कराने में समर्थ कही जाती है।

...स्तु; अब प्रस्तुत विषय पर यथाबुद्धि विचार प्रकट करते हैं।

...इस अगले विकास में आरोहक्रम से इन बारह कालियों का ...न किया जायेगा। यानी प्रथम, प्रमेयपद पर विचार करेंगे, तदनन्तर ...तम विषय प्रमातृपद होगा।

...इस के अतिरिक्त इन कालियों के विषय पर प्रकाश डालने से पूर्व ...कहना भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि त्रिकशास्त्र के अद्वैतवाद ...को *अन्तरर्थवाद क्यों कहते हैं। इस के कहने का यही अभिप्राय ...कि त्रिकमतानुसार यह समस्त जगद्वर्ती पदार्थ, जो हमें बाह्यरूप में ठहरा हुआ दिखाई देता है, वह सब पदार्थसमूह तथ्यरूपतया स्वात्म-संविद्रूपता में ही स्थित है, तभी तो शैव-योगियों को बाह्याभिमत शब्दादि विषयों में आन्तरिक संविच्छक्ति के विकास का अनुभव करामलकवत् प्रतीत होने लगता है। इसी अभिप्राय से इस अद्वैतवाद को अन्तर अर्थवाद् भी कहते हैं।

अब हम अपने अनुभव एवं शास्त्रों के आधार पर प्रथम, प्रमेय-पदस्थ सृष्टि-दशा के विकास पर तनिक विचार करेंगे।

---

*अन्तरर्थवाद कहने का यह अभिप्राय है कि वास्तव में सभी घट, पट आदि पदार्थ स्वात्मसंवित्ति के भीतर ही ठहरे हैं, शरीर की उपाधि से ही भीतर और बाहर दिखाई देते हैं— अतः सिद्धान्त यह है कि अपने देह के साथ इस सब जगत् को संविद्रूपता के भीतर ही समझना चाहिये।

———

...ठहरी हुई

सृष्टिकाली

प्रथम विकास

पूर्व हम यह कह आये हैं कि पारमेश्वरी संविद्देवी का ... विकास प्रमेय पद की सृष्टिदशा में होता है। इस सृष्टि-दशा से ... तात्पर्य है;— इसे सरल शब्दों में यूँ कह सकते हैं:—

जब हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के द्वारा कि... वस्तु को ग्रहण करने लगते हैं, यानी उस की ओर आकर्षित हो... तो प्रथम-क्षण में हमें उस वस्तु का आभास केवल निर्विकल्परूपत... ही अनुभव होने लगता है। इसी निर्विकल्प-आभास का नाम प्राथ... आलोचन है। अभिप्राय यह है कि जब प्रमाता की संवित्ति पदार्थोन्मुख... होकर प्रमेय को ग्रहण करने लगती है तो प्रथम-प्रसर में वह संवित्ति... उस प्रमेय के स्वरूप को नामरूप-कल्पना से रहित केवल निर्विकल्परूपत... से ही देखती है। उस दशा में प्रमाता को यह सविकल्प ज्ञान नहीं... होता कि 'मैं देखता हूँ मैं खाता हूँ' इत्यादि। उस अवस्था में... प्रमेयगत घटपटादिवर्ग तथा प्रमाणगत इन्द्रियवर्ग भेदरूपता से प्रतीत नहीं... होता है, केवल देश आदि उपाधि की कल्पनाओं से रहित अकथनीय... निर्विकल्प संविद्रूपता का ही आभास होता है। इस दशा का निर्णय श्रीयोगवासिष्ठ में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है—

"द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनं प्रथमाभासमात्मानं समुपास्महे॥"

अर्थात् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य को वासना सहित छोड़नेपर केव ल

...लोचन के रूप में जो प्रकाश उदय होता है उसी निर्विकल्प ...शा की हम उपासना करते हैं यानी परामर्श करते हैं।

...ष्टि से यही प्राथमिक-आलोचनात्मक निर्विकल्प-अवस्था समस्त ...ा ग्रास करने के फलस्वरूप पूर्व आचार्यों ने काल-संकर्षिणी ...नाम से अलंकृत की हुई है। क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में इसी अवस्था ...ाली के नाम से वर्णन किया है। योगी इस स्थिति का बार ...नुसंधान करने से प्रत्येक बाह्य-क्रिया में पारमार्थिक परा भगवती ...त्साक्षात्कार करता है। इस स्थिति का निर्णय क्रमस्तोत्र के निम्न श्लोक ...र्णित है—

सृष्टिकाली

कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपा—
मुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः।
निलीयते नीलकुलालये या
तां सृष्टिकालीं सततं नमामि ॥
॥ १ ॥

या (परप्रमातृरूपा संविद्देवी) नीलकुलालये निलीयते, तां कौल-अर्णव-आनन्दघन-ऊर्मिरूपां (तथा) अन्तः उन्मेष-मेष-उभय-भाजम् सृष्टि-कालीं सततं नमामि इति संबन्धः ॥ १ ॥

अर्थात् जो परप्रमातृरूप संविद्देवी कौल यानी परबोधरूपी शिव-समुद्र की आद्य-उन्मेष-दशा होने के हेतु प्रथम-स्पन्द-रूप ऊर्मि बनी हुई है। तथा जो अपने ही अन्तःस्वरूप में उन्मेष और निमेष का सेवन करती है। साथ ही जो देवी 'नीलकुलालय' यानी घटपटादि प्रमेय-वर्ग में प्राथमिक-

आलोचन के रूप में ठहरी हुई है; उसी सृष्टिकाली भगवती ...ं ठहरी हुई नमस्कार करता हूं यानी अपनी मितप्रमातृदशा को परसंवित्ति ...करके उसी परस्वरूप में समावेश करता हूं। अस्तु ऊपरोक्त ...में परादेवी की प्रमेयपदस्थ सृष्टिदशा का वर्णन समाप्त हुआ।

रक्तकाली

दूसरा विकास

अब पराभगवती के इस दूसरे विकास में प्रमेय-पद में स्थिति के संबन्ध में विचार किया जायेगा।

ऊपर वर्णित देवी सृष्टिकाली के उदय होने के पश्चात् वही पू... निर्णीता परसंवित्ति जब घट पट आदि पदार्थों की ओर उन्मुख बन क... बहिर्मुख बनती है, या यूं कहा जाये कि जब यह काली देवी अपने ही अनर्गल स्वातंत्र्य से प्रमेयवर्ती स्थितिदशा [प्रमाणदशा] में आकर नेत्र आदि इन्द्रियों के, रूप आदि विषय-चक्र के साथ पदार्थ-रंजनात्मक रक्ति यानी राग को प्राप्त करती है, तो विषयों को भोगते हुए भी वह पर-प्रमातृरूप संविद्देवी उस पदार्थ-रञ्जनात्मक ज्ञान का भी स्वात्मरूपतया ही साक्षात्कार करती है, यानी ग्राह्यग्राहकवेला में भी वह परादेवी उस विषयभोगरूप रक्ति को निर्विकल्पभाव से अनुभव करती हुई अपनी दूसरी स्वरूपविकासदशा को प्रकट करती है। इस अवस्था का उल्लेख श्रीमान् [आचार्य] उत्पलदेव जी ने अपने इस श्लोक में किया है—

" तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं
युष्मदर्चनरसायनासवम् ।
सर्वभावचषकेषु पूरिते -
ष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥ " स्तो० वली, १३, श्लो० ८

हे प्रभो ! लबालब भरे हुए समस्त पदार्थरूपी प्यालों में
न्द्रियों के द्वारा धारावाहिक रूप से की गई आप की पूजा के
मदिरा को तृप्ति-पर्यन्त पीता हुआ ही मैं मतवाला बनूं ॥

स्तु ; क्रमस्तोत्रादि रहस्य शास्त्रों में इस दूसरे संविद्विकास को
ी के नाम से आदृत किया है। क्रमस्तोत्र का निम्नलिखित श्लोक
ली का परिचायक है—

रक्तकाली

165
3.64

महाविनोदार्पितमातृचक्र—
वीरेन्द्रकासृग्रसपानसक्ताम् ।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां
नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ॥
॥ २ ॥

(अहं) महाविनोद - अर्पित - मातृ - चक्रवीरेन्द्रक - असृग्रस - पान - सक्ताम् , प्रलय - अत्यये च रक्ती - कृताम् तां विश्वाकृति - रक्तकालीं नमामि—इति सम्बन्धः ॥ २ ॥

इस श्लोक के 'मातृचक्र' शब्द में मातृ-गण यानी समस्त इन्द्रिय-संबन्धी करणेश्वरी-समूह की ओर संकेत किया गया है और 'वीरेन्द्रक शब्द में—

"त्रितयभोक्ता वीरेशः ।" शि० सू० उ० ठहरी हुई

इस शिवसूत्र की नीति से परमयोगियों की ओर संके
यह है कि ऐसे ही उच्च कोटि के योगी जाग्रत् आदि त
में भी तुर्यचमत्कार से संपन्न बने रहते हैं।

अस्तु ऊपर वर्णित श्लोक का शब्दार्थ यह है कि जिस
चमत्कारात्मक आनन्द से युक्त विनोद-दशा में परमयोगी-ज
करणेश्वरी रूपी योगिनियों के साथ लवलीन बन जाते हैं— इ
के महासिद्ध-योगिनी-मेलाप-वेला में, जब परमयोगी-जन तथा
करणेश्वरी देवियों का वास्तविक समागम होता है, ऐसी दशा में
परा पारमेश्वरी संवित् (असृग्रस) अर्थात् इस सिद्धयोगिनियों की म
में महापानलीला करने में तत्पर बनी होती है। कहा भी है—

"जुहोति जपति प्रेद्धे
सर्वत्रैवात्र चण्डिका ।" ब्रह्मया० ॥

अर्थात् इस महायोगिनी-मेलाप में हवन, जप-इत्यादि सारे का
दुर्गा भगवती ही करती है और वही सर्वतः उस महा गोष्ठी में देदीप्यमान
बनी रहती है। इस के अतिरिक्त जो संहार रूप प्रलय के अत्यय यानी
अवसान पर, या यूँ कहा जाये कि स्थिति रूप विश्व-उन्मेष-दशा में
निर्विकल्पभाव से अनुरक्त बनी हुई है, उसी विश्वाकार बनी हुई रक्त-
काली भगवती को प्रणाम करता हूँ। यहाँ भी प्रणाम शब्द का
तात्पर्य उसी में तन्मयरूप से ठहरने की ओर है।

इस उक्तरीति से पारमेश्वरी संविद्देवी की प्रमेयगत स्थितिदशा का वर्णन समाप्त हुआ। ॐ।

———

स्थितिनाशकाली

तीसरा विकास

तीसरे विकास में भगवती काली की प्रमेयपदान्तर्गत संहारदशा है। ऊपर वर्णित रक्ता देवी के विषयग्रहणात्मक चमत्कार के उदित होने के पश्चात् वही परप्रमातृरूप संवित्—

'ज्ञातोऽयं मयार्थः'

अर्थात् मैं ने यह पदार्थ जान लिया,—इस रीति से जब तृप्त अन्तर्मुखता का ही (आश्रय या) विमर्श करती है, तब ग्राह्य तथा की स्थिति को स्वात्मसात् करती हुई—'स्थितिनाशकाली' के स्वरूप कट होती है। भाव यह है कि विषयभोगात्मक क्रियाओं की समाप्ति ये ही ❀करणेश्वरी देवियां तृप्त होकर चिद्भैरवनाथ के साथ पूर्ण से आलिंगित बनी हुई अन्तर्मुखपद का अवलम्बन करती हैं।

श्रीतन्त्रालोक में श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने इसी थन को अतिसुन्दर शब्दों में समझाया है:—

'तास्तृप्ताः स्वात्मनः पूर्णं
हृदयैकान्तशायिनम्।

❀इन्द्रियों को ही करणेश्वरी देवियां भी कहते हैं— किन्तु इन में इतना ही अन्तर है कि अन्तर्मुख-पद में ठहरी हुई इन्द्रियां करणेश्वरी देवियां कहलाती है और बाह्यवृत्तियों में तत्पर बनी हुई वे ही इन्द्रियाँ कही जाती हैं

चिद्वयोमभैरवं देव—
मभेदेनाधिशेरते'॥ तं० लो०, आ ३,

अर्थात् जब इन्द्रियां भोगक्रिया के चमत्कार से पूर्णरूप ठहरी हुई हैं, तब वे ही इन्द्रियां अन्तर्मुखवृत्ति का आश्रय लेती हुई देवियां हृदयस्थान में विश्राम लेते हुए, एवं आकांक्षारहित होने परिपूर्ण भैरवनाथ के साथ आलिंगन करती हुई तन्मय हो जा

परसंवित्ति की इसी अवस्था को क्रमस्तोत्रादि कालीशास्त्रों में नाशकाली' के नाम से वर्णित किया है, क्रमस्तोत्र का निम्नलिखित इसी काली भगवती का द्योतक है:—

स्थितिनाशकाली

वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्र—
प्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम्।
शुचिर्ययास्तंगमितोर्चिषा तां
शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम्॥ ३॥

यया अर्चिषा शुचिः अस्तं गमितः, तां वाजिद्वय-स्वीकृत-वातचक्र-प्रक्रान्त-संघट्ट-गमागमस्थां शान्तां स्थितिनाशकालीं नमामि '(अहम्)' – इति संबन्धः॥ ३॥

अर्थात् जो यह प्राण और अपान का जोड़ा दो वेगों से युक्त बना है, उसने समस्त 'वातचक्र' यानी बहत्तर हज़ार नाड़ियों को स्वीकृत किया है— अर्थात् अपने ही अधीन बनाया है। इस प्राणापानयुगल के प्रवेश और निर्गमनात्मक क्रिया में, या यूँ कहें कि श्वास के आने जाने में अन्तर्द्वादशान्त और बाह्यद्वादशान्त में जो संघट्ट यानी संधि होती है,

और प्रमाण के जोड़े का जो मेल, प्रमातृ-पद में होता
धे में जो परप्रमातृरूपा देवी ठहरी है तथा जिस संविद्देवी
ही अर्चि यानी दीप्ति से *'शुचि' अर्थात् मितप्रमाता को
ही अस्त किया है, उसी प्रमाणप्रमेयादिक्षोभशून्य, या
जाये प्राणापानादिक्षोभशून्य अत्यन्त शान्त निर्विकल्परूप स्थिति-
ा को मैं नमस्कार करता हूँ, यानी उसी में समावेश करता

श्रीमान् आचार्य उत्पलदेव जी ने निम्नलिखित श्लोक में इस अवस्था
ोर संकेत किया है—

यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वां-
श्चन्द्रमः प्रभृतिभिः सह सर्वैः ।
कापि सा विजयते शिवरात्रिः
स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा ॥ शिवस्तो०, ४, २२ ॥

अर्थात् जिस अवस्था में वह प्राण-रूपी सूर्यदेवता अपानरूपी चन्द्रमा आदि सम्पूर्ण विकल्परूपी तारामंण्डल-सहित अस्त हो जाता है, उसी स्वात्मचिदानन्द रूपी ज्योतिः-प्रसर से देदीप्यमान बनी हुई किसी अलौकिक परप्रमातृरूप शिवरात्रि की जय हो।

यहाँ शिवरात्रि, शब्द इसी स्थितिनाशकाली भगवती का सूचक है।

इस प्रकार पारमेश्वरी संविद् भट्टारिका के तीसरे विकास का निर्णय भी समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

---

*शैव शास्त्रों में शुचि अग्नि यानी प्रमाता को कहते हैं। कहा भी है—

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः
संघट्टात् सोमसूर्ययोः ॥'

अर्थात् शुचि प्राणापान के संघट्ट से उत्पन्न हुआ अग्नि यानी प्रमाता कहलाता है।

ं ठहरी हुई

यम काली

चौथा विकास

प्रस्तुत विकास में प्रमेयपदान्तर्गत अनाख्यदशा के स्वरूप
होगा। परसंवित्ति की यह अनाख्यदशा दो भागों में विभक्त
है। एक बहिर्मुख स्वरूपाच्छादनरूपा दूसरी अन्तर्मुख स्वरूपोन्
रूपा। इन दोनों अवस्थाओं का अनुभव केवल शैव-योगी ही कर
है।

जब योगी उपरोक्त परप्रमातृ-रूपा स्थितिनाशकाली का अनुभव
है, उस दशा के पश्चात् ही जहाँ प्राणापानरूपी द्वन्द या प्रमाण
रूपी द्वन्द्व सर्वभाव से परचिति में संहृत अथवा लय होता है, तब
परादशा में भी योगी यदि स्वात्मानुसंधान में तनिक-मात्र भी ढील
तो वह अनाख्यदशा में प्रविष्ट होने के उलट स्वरूपाच्छादनरूपा महामाय
में प्रविष्ट होने लगता है। इस भांति ऐसा योगी स्वात्मपरामर्श से छूटने
के फलस्वरूप कार्याकार्यविचार में किंकर्त्तव्यमूढ बना हुआ शंकासमुद्र
निमग्न होकर बहिर्मुख ही बनता है। इस के विलोम यदि जागरूक
योगी—

"उद्यमो भैरवः" उ० १, ५ ॥

इस शिवसूत्र की उक्ति से उस अवस्था में मनाग्मात्र भी स्वात्मानुसंधान को नही छोड़ता; यानी उद्यन्तृतास्पद में कटिबद्ध रहता है, तब वह उस अनाख्य-दशा में प्रवेश करते ही स्वरूपप्रथनात्मक विकास-समाधि में प्रविष्ट होता है। इसी आशय से स्पन्द-शास्त्र में भी कहा है—

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि
प्रलीनशशिभास्करे ।

सौषुप्तपदवन्मूढः

प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ १, २५ ॥

उस दशा में जहाँ सोमसूर्य रूपी प्राण और अपान, या
र प्रमेय सर्वभाव से चिदाकाश में लयीभूत होते हैं, ऐसी
के उपस्थित होने पर भी स्वात्मानुसंधान-रहित मूढ योगी
रूपिणी सुषुप्तावस्था में ही चला जाता है किंतु प्रबुद्ध योगी जो
परायण रहता है, इस अवस्था में प्रवेश करके सदा के लिए
न के चक्र से छूट जाता है। उपरोक्त श्लोक से इस बात की
हुई कि इस परा दशा में पहुँच कर भी पुनः गिरने की संभावना
अतः योगी को चाहिये कि किसी क्षण भी स्वात्मपरामर्श से रहित
।

अस्तु, इन्हीं दो प्रकार की स्थितियों से युक्त—'महाग्रास' एवं
विलास' करने वाली पराचिति को यमकाली के नाम से वर्णन
जाये
है। क्रमस्तोत्र का निम्न श्लोक इसी यमकाली का सूचक है—

यम काली

सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य—
यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय ।
वपुर्महाग्रासविलासरागा-
त्संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ॥ ४ ॥

(अहं) सर्वार्थ - संकर्षण - संयमस्य यमस्य यन्तुः वपुः, जगतः यमाय महाग्रास - विलासरागात् संकर्षयन्तीम् कालीं प्रणमामि— इति संबंधः ॥ ४ ॥

अर्थात् जो यम रूपी विकल्प समस्त रूप आदि पदार्थों में ठहरी हुई
अपोहन करके यानी 'यह घड़ा ही है, वस्त्र नहीं'—
नियत रूप से संयम अर्थात् विकल्प करता है; या यूं कहें
नियतरूपता को ठहराता है और जो उस यमरूप विकल्प
मितप्रमाता है—इस रीति से इन दोनों के स्वरूप को, जो
काली देवी जगत का नियमन करने के लिए महाग्रास और
रूपी अपनी आनन्द-रसलीला से संकर्षण यानी उल्लेख करती है
महाग्रासरस तथा महाविलासरस को दर्शाने वाली परा पारमेश्वरी
यमकाली को मैं प्रणाम करता हूं यानी अपनी देहप्रमातृता को
में लय करके उसी के परास्वरूप में प्रवेश करता हूं ॥ ४ ॥

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि अपनी ही अप्रतिहता स्वातंत्र्य
से जो परादेवी एक ओर से स्वात्म - उन्मुखता का आश्रय लेकर
यमादि विकल्परूप जगन्मण्डल को अन्तर्मुखपद में लवलीन कर
महाग्रासरस का उल्लास करके परप्रमातृदशा से स्फुरित होती है
दूसरी ओर अपने ही प्रमोदरस से विकल्प, विकल्पयिता आदि सम
भाववर्ग को बाह्य - स्वरूप में लेजा कर महाविलासरस का प्रमोद लेती
हुई मितप्रमातृदशा का ही स्फार करती है इन्हीं दो विलासरसों में रसिक
बनी हुई यमकाली मानी गई है।

पारमेश्वरी भगवती की अनुकम्पा से इस चौथे विकास में निर्णीत
प्रमेयगत सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्यरूपता का आश्रय लेकर
'सृष्टिकाली'—'रक्तकाली'—'स्थितिनाशकाली' और 'यमकाली' इन
चार कालियों का वर्णन समाप्त हुआ ॥ ॐ ॥

संहारकाली

पाञ्चवां विकास

वें इस परादेवी के पांचवें विकास में प्रमाणपदस्थ सृष्टिदशा का किया जाता है।

इस प्रमाणान्तर्वर्ती सृष्टिदशा के प्रतिपादन करने का तात्पर्य यह कि जब योगी पूर्वसूत्रित प्रमेयगत अनाख्यदशा में स्वात्म-संवित्ति के पोपनात्मक तथा स्वरूप-उन्मीलनात्मक— दोनों रूपों का अनुभव है, तो गुरुकृपा से वह योगी स्वरूपगोपनात्मक बहिर्मुखवृत्ति का संहार करने लगता है; यानी इस संसृति-चक्र को स्वात्माग्नि में रूपतया अर्थात् अन्तर्मुख पद का आश्रय लेकर ही लयीभूत करता स्तव आप ही आप विना प्रयास के ही प्रमाणसंबन्धी सृष्टि-दशा प्रवेश करता है। इस दशा में आकर उसे पुनः स्वरूपगोपनात्मक हिर्मुखवृत्ति नहीं आ घेरती, अतः वह योगी निर्विकल्पता से ही न्मनारूप स्वात्मसंवित्ति में भावसंहार रूपी अवस्था का अनुभव करता है। आचार्य उत्पलदेव जी महाराज ने भी इस भावसंहारात्मक अवस्था का संकेत श्री उत्पलस्तोत्रावली के इस श्लोक में किया है:—

" विलीयमानास्त्वय्येव
व्योम्नि मेचलवा इव।
भावा विभान्तु मे शश्वत्
क्रमनैर्मल्यगामिनः ॥ " (स्तो० ६, श्लो० ७)

अर्थात् हे प्रभो! आकाश में लीन बने हुए मेघखण्डों की नाईं ये घटपटादि पदार्थ आप के स्वरूप में ही भली भांति तथा क्रमरूप से लय होकर निर्मलता को प्राप्त होते हुए मुझे दीखने लगें।

इस अवस्था को भावसंहाररूप इस लिये कहते हैं कि इस कोटि में पहुंच कर भेदप्रथात्मक शंकाओं तथा हेयोपादेयरूप कल्पनाओं के साथ प्रमेयमण्डल सर्वभाव से संहृत हो जाता है।

इसी अवस्था को क्रमस्तोत्रादि रहस्य शास्त्रों में श्रीसंहारकाली के नाम से वर्णन किया है। इस देवी काली की स्तुति क्रमस्तोत्र के इस

श्लोक में की है :— में ठहरी हुई

५ संहारकाली

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा
या भावसंहारनिमेषमेति ।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां
संहारकालीं मुदितां नमामि ॥ ५

या (परा देवी) उन्मनी; अनन्ता, निखिल-अर्थ-गर्भा सदा सती, भाव-संहार-निमेषम् एति (ताम्) उदयाय शून्यां मु संहारकालीं नमामि इति संबन्धः ॥ ५ ॥

अर्थात् जो पारमेश्वरी संवित् पूर्वसूचित समस्त शंकात्मक विकल्पों संहार करने से उन्मना रूप बनी हुई है, समस्त पदार्थों को अ स्वरूप में रखने से अनन्त रूप है, जो कालिका देवी स्वात्माग्नि समस्त भावमण्डल का उपसंहार करने के फलस्वरूप, भावसंहारस्थिति आश्रय लेती है, तथा जो उद्यन्तृतास्पद का अवलम्बन लेते हुए भी बहिः स्फाररूप उदय से शून्य बनी हुई है। ऐसी आनन्दघना संहारकाल को मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ भी प्रणाम का अर्थ पूर्वनीति के अनुसार उसी में समाविष्ट बनने का है।

आज त्रिपुरसुन्दरी भगवती की अनुग्राहिका शक्ति से पांचवें विकास में वर्णित संहारकाली भगवती का निर्णय समाप्त हुआ ॥ ॐ ॥

...हारकाली की अवस्था में संस्काररूप से तनिकमात्र ...मश्चस्य बना ही रहता है, तभी तो इस दशा में प्रस्तुत ...त्ता में आता है कि "मैं ने इदन्ता को अहंस्वरूप में ...ा है"। इस के विलोम पूर्णाहन्तास्वरूप में न तो लयीभूत ...ता है और न इस प्रकार का परामर्श ही करना होता है। ...न्तास्पद में "सर्वमहम्" इस रूप का परामर्श होने से केवल ...अंहता अवस्थित रहती है। अतः पूर्वोक्त उपाधि-सहित ...पी संवित् को इस उपाधि-रहित, स्वभावभूत अहंता में प्रवेश ...नके लिये ही इस प्रस्तुत मृत्युकाली का वर्णन करना युक्तियुक्त तथा ...वना हुआ है। उत्पलदेव जी महाराज ने इसी अवस्था की ...रते हुए यह निम्न श्लोक कहा है :—

"त्वामगाधमविकल्पमद्वयं
स्वस्वरूपमखिलार्थघस्मरम्।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा
पूजयेयमभिसंस्तुवीय च॥" (स्तो०, १३ स्तोत्र, श्लो० २०)

अर्थात् हे पार्वती नाथ! अपार निर्विकल्प अभेदरूप तथा समस्त घटपटादि भेदात्मक पदार्थों का ग्रास करने वाले आप के स्वरूप में प्रविष्ट होकर मैं आप की पूजा करूँ और सर्वभाव से आप की ही स्तुति करूँ॥

अस्तु इस प्रमाण-पदस्थ स्थिति दशा का अनुभव करने वाले योगी की संवित् भी घस्मर बन जाती है; यानी उसे खाने की चाहना सदा बनी रहती है। प्रत्येक खाद्य-पदार्थ को खाकर भी इसे भूख सताती रहती है। हमारी दृष्टि में भी कई योगी-जन ऐसे दीखने में आये हैं कि जिन्हें कुछ काल के लिये ऐसी अवस्था रही है। वे इस दशा में रहकर मनों दूध, सब्जी-इत्यादि का भक्षण हेलया करते थे।

ॐ

में ठहरी हुई

* श्री क्रमस्तोत्र *

कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपा-
मुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः।
निलीयते नीलकुलालये या
तां सृष्टिकालीं सततं नमामि॥ १॥

महाविनोदार्पितमातृचक्र-
वीरेन्द्रकासृग्रसपानसक्ताम्।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां
नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम्॥ २॥

वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्र-
प्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम्।
शुचिर्ययास्तं गमितोऽर्चिषा तां
शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम्॥ ३॥

सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य
यमस्म यन्तुर्जगतो यमाय।
बपुर्महाग्रासविलासरागात्
संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम्॥ ४॥

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा
या भावसंहारनिमेषमेति।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां
संहारकालीं मुदितां नमामि॥ ५॥

ममेत्यहंकारकलाकलाप-
विस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः।
ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां
नमामि कालोदितमृत्युकालीम्॥ ६॥

महाकल्पविरामकल्प-
भवान्तमीमभ्रकुटिभ्रमन्त्या ।
त्यनन्तप्रभवार्चिषा तां
नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम् ॥ ७ ॥

डमापीतपतङ्गचक्र
पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय ।
ति या विश्वरसान्तकां तां
मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि ॥ ८ ॥

अस्तोदितद्वादशभानुभाजि
यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव ।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति
तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम् ॥ ९ ॥

कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र-
क्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः ।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां
तां नौमि कलानलरुद्रकालीम् ॥ १० ॥

नक्तं महाभूतलये श्मशाने
दिग्खेचरीचक्रगणेन साकम् ।
कालीं महाकालमलं ग्रसन्तीं
वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम् ॥ ११ ॥

क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्र-
सञ्चारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरवघोरचण्ड-
कालीं कलाकाशशशाङ्ककांतिम् ॥ १२ ॥

अस्तु आ... परा भगवती की इस प्रमाणवर्ग में ठहरी हुई स्थिति दशा का वर्णन स... आ ॥ ६ ॥ ॐ ॥

भद्र काली

सातवां विकास

इस प्रस्तुत सातवें विकास में परप्रमातृरूपा चिन्महेश्वरी की ... प्रमाणगत संहारस्वरूप में वर्णित होगी ।

यद्यपि कार्यरूप समस्त भाववर्ग उपाधि रहित शुद्ध प्रमातृसंवित्ति ... लय होने के फल-स्वरूप संहृत भी हुआ है, तथापि अपनी अप्रति... स्वातंत्र्य शक्ति से वह शतशः प्रतिपादित परासंवित् उस भाववर्ग ... संहार करने के अनन्तर ही किसी नियतरूप पदार्थ को पुनः घनीभ... करके उसकी संस्कारात्मक अस्तित्वशंका को पुनः उत्थापित करती ... जिसके फलस्वरूप कालान्तर में प्रमाता को पुनः संसार चक्र में गिर... की ओर जुकाव रह जाता है । किन्तु इस प्रमाणगत संहाररूप अवस्था ... में यद्यपि उपरोक्त प्रकार की संस्कारात्मक शंकायें उदित भी होती हैं, तथापि वे सभी शंकायें उदित होते ही काफूरवत् आप ही आप नष्ट हो जाती हैं । इस रीति से संस्कार-उत्थापनात्मक भेदन और संस्कार-प्रशमनात्मक द्रावण करती हुई चिन्महेश्वरी कालिका भगवती अपने सातवें विकास का प्रदर्शन करती है। क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में इस विकास

को भद्रकाली के नाम से अलंकृत किया है। "[illegible]" का शाब्दिक
अर्थ दो अक्षरों से ग्रहण किया जाता है। "[illegible]" भेदन अर्थात् भिन्न भिन्न
त्यनन्तप्रभ[illegible] का विलास। "[illegible]" से द्रा[illegible] यानी उन विभिन्न विकासों को पुनः
नमा[illegible] स्वरूप में लय करना है। अतः इस भद्रकाली के भद्र-शब्द
इमापीतपतङ्गचक्रं [illegible] द्रावण—इनहीं दो अर्थों का अन्तर्भाव समझना चाहिये।
पतङ्गवल[illegible] निम्न श्लोक इसी काली को दर्शाता है :—
ति या विश्वरसा[illegible]
मार्त[illegible]

७ भद्र काली

अस्तोदितद्वादशभा[illegible]
य[illegible]
प्रशान्तधाम्नि द्यु[illegible]
त[illegible]

"विश्वं महाकल्पविरामकल्प-
भवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या ।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां
नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम् ॥ ७ ॥"

कालक्रमाक्रान्[illegible]

———

कालाग्नि[illegible]

नक्तं म[illegible]

या अनन्तप्रभवा महाकल्पविरामकल्प-भवान्त-भीम-भ्रुकुटिभ्रमन्त्या
कालीं अर्चिषा विश्वम् अश्नाति, ताम् भद्रां शुभभद्रकालीं (अहं) नमामि-इति
क्रम संबन्धः ॥ ७ ॥

अर्थात् महाकल्पान्त के सदृश्य [प्रमाणगत संहृति-चक्र रूपी] संहारावस्था में भयंकर भ्रुकुटियों को नचाती हुई अनन्त सामर्थ्य से युक्त जो चिदीश्वरी अपनी चिद्रूप दीप्तियों से इस प्रमेयप्रमाण रूपी समस्त जगत का ग्रास करती है—उसी कल्याणमयी भद्रकाली भगवती को मैं प्रणाम करता हूं यानी उसी के स्वरूप में समावेश करता हूं ॥

ऊपर वर्णित श्लो[illegible] के इस विश्वशब्द और अर्चि शब्द में भद्रकाली
की क्रमपूर्वक संस्कार-उत्थापन[illegible]क भेदनरूपता एवं संस्कार-प्रशमनात्मक
द्रावणरूपता पर कुछ विचार निम्नलिखित रूप में प्रकट करते हैं।

पूर्ववर्णित प्रमेय-पद की अनाख्यदशा में भी इस संस्कार-जन्य [illegible]
की उदित-दशा का वर्णन हो चुका है, किन्तु उस शंकास्पद [illegible]
इस भद्रकाली संबन्धि शंकास्पद भूमि में तिल ताड़ का अ[illegible]
उस यमकाली अवस्था में होने वाली शंकायें तो पुरुष-प्रयत्न
नष्ट होती है, यानी यदि साधक पुरुष उन शंकाओं को अपने अ[illegible]
रूपी प्रयत्न के द्वारा नष्ट करने के लिए कटिबद्ध न रहें त[illegible]
स्वात्मस्थिति से च्युत होकर अन्य संसारी जनों की भांति बहिर्मुख
बन जाते हैं। किन्तु प्रस्तुत भद्रकाली की अवस्था में उत्थित
योगी के प्रयत्न किये बिना ही स्वयं नष्ट होती हैं। इसी अभिप्र
जतलाने के लिये—इस भद्रकाली की अवस्था में शंकाओं का
एवं शंकाओं का द्रावण—इस प्रकार के दो स्पन्दों का एक साथ
उदित होना कहा गया है।

इसी काली भगवती के प्रभाव से जब योगी इस अवस्था में सम
करता है, तो वह स्वयं ही उस अवस्था में शङ्काओं का उदय औ
नाश युगपद्भाव से अनुभव करता हुआ अनायास ही भद्रकाली
अवस्था का साक्षात्कार करता है।

अस्तु। जो भी हो, तत्त्वदृष्टि से कार्य-अकार्य-रूप शङ्कायें ही योग
के लिये, सदाशिवदशा की प्राप्ति तक विघ्नरूप से अवस्थित रहती है
इसी प्रकार की शङ्काओं की अधमता दर्शाते हुए आचार्य अभिनवगु
जी महाराज ने तन्त्रालोक में कहा है—

"तथाहि शङ्का मालिन्यं
ग्लानिः संकोच इत्यदः ।
संसारकारागारान्तः
स्थूलस्थूणाघटायते ॥" (तं० लो, १२ आ०, श्लो० २०)

अर्थात् शंका ही मानो तीनों प्रकार का मल है। शंका ही मल
यानी अज्ञान से उपजा हुआ प्रमाद है। यही संकोच है, तथा यह
शंका इस संसाररूपी कारागृह में एक मोटे खंभे की भांति अवश्य
—जिस के साथ मनुष्य सदा के लिए बन्धे रहते हैं।

चिच्चमत्कृतिमयी पराभगवती की अनुकम्पा से प्रमान दशा में ठ
पतङ्गहारचक्र में देदीप्यमान बनी हुई श्री भद्रकाली देवी के स्व
ति या विश्वरसान्तकं समाप्त हुआ ॥ ७ ॥ ॐ ॥

मार्तण्ड काली

आठवां विकास

इस विकास में, प्रमाणवर्गान्तर्गत पारमेश्वरी देवी की अनाख्यदश
का वर्णन करेंगे।

पूर्ववर्णित देवी के सातवें विकास में यद्यपि प्रमेयमण्डल सर्वभाव
विलीन हो गया है, तथापि प्रमाणदशा में स्थित, प्रमेयसमूह को जीव
देने वाली बारह इन्द्रियां (पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पाञ्च कर्मेन्द्रिय, मन औ
बुद्धि) संहृत होकर भी अपने वास्तविक आश्रयस्थान अहंकार में सम
वेशप्राप्ति के विना इन इन्द्रियों की सत्ता सूक्ष्म रूप से बनी ही रहत
है। इत्यतः इस प्रस्तुत विकास में अपने ही स्वातंत्र्य से यानी परिमि
प्रमातृपद को एक ओर रख कर, परप्रमातृरूपा पारमेश्वरी देवी,

बारह इन्द्रियरूपी सूर्यात्मक साधनों को, इन के आश्रयस्थान बने हुए अहंकार-पद में विलीन बनाती हुई, अपने विश्वमयस्वरूप के आठवें विकास का प्रदर्शन करती है।

पूर्व हम कह आये हैं कि इन इन्द्रियों को शैव-शास्त्र में सूर्य कह कर वर्णित किया है, तथा इन्हीं को प्रमाण भी कहते हैं। देवी

"सूर्य प्रमाणमित्याहुः।"

इस उक्ति के अनुसार इन इन्द्रिय रूपी बारह सूर्यों मार्तण्डों को अहमात्मक पद में संहार करने के कारण इस क्रमस्तोत्रादि शास्त्रों में 'मार्तण्डकाली, के नाम से विभूषित किया में कहा है :—

८ मार्तण्डकाली

'मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं
पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय।
करोति या विश्वरसान्तकां तां
मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि"

या (देवी) मार्तण्डम्, पतङ्गवत्
काल-कला-इन्धनाय, आपीत-
पतङ्गचक्रं करोति, तां विश्वरस-
अन्तकां मार्तण्डकालीं सततं प्र-
णौमि— इत्यन्वयः ॥ ८ ॥

अर्थ :—पूर्वोक्तनीति से भोग्य-वर्ग के विलीन होने पर भी जो परासं—
विद्रूपा जगदीश्वरी, मार्तण्ड-अर्थात् अहंकाररूप प्रमाता को इस

रीति से संस्थापित करती है, जिस से वह प्रमाता भोगसाधन बने हुए सभी
त्यनन्त चक्र यानी बारह इन्द्रियों को उसी भांति समाप्त कर देता है, जैसे
नभा अति उत्साह एवं वेग से जलते हुए दीपक पर अपने प्राणों को
दा के लिये अपने स्वरूप को समाप्त करता है। ऊपर
इमापीतपतङ्गच का अहमात्मक पद में लय करने का प्रयोजन वक्ष्यमाण
पतङ्गात्मक भितप्रमाता को उत्तेजित करना ही है। इस प्रकार
ति या विश्व आदि वैषयिक रसों को स्वस्वरूप में ही विलीन बनाने वाली
कालकाली भगवती की मैं सदा स्तुति करता हूं, यानी उसी के
परामर्श अहर्निश करता हूँ ॥

अस्तोदितद्वादश तो यह है कि जब योगी प्रमाणचक्रवर्ती इस अनाख्यदशा
करता है तो उसे यह अनुभव होता है कि इस मार्तण्डकाली
प्रशान्तधाम्नि न बनने से ही मेरी समस्त प्रमाणचक्रवर्ती इन्द्रियां अपने समस्त
सहित उदित होकर इसी मार्तण्डकाली के प्रभाव से पुनः उसी के स्वरूप
कालक्रमाक्र न हो गई हैं। और इस रीति से अपने अस्तित्व को सदा के लिये खो
इसी अवस्था की स्तुति करते हुए किसी आचार्य ने कहा है :-

काला "करणमरीचिचक्रमुदयं कुरुते रभसात्
स्थितिमुपयाति तत्र परसौख्यरसान्ततया।
नक्तं विलयमुपैति चात्र परबोधभरक्षपणात्
परमकलात्र केवलतया विलसत्यमला ॥"

काल अर्थात् इस अवस्था की प्राप्ति पर बारह इन्द्रियों का संपूर्णचक्र
उत्साह एवं हर्ष पूर्वक उदित होता है। तदनन्तर उस अवस्था की
आत्यन्तिक एवं आन्तरिक सुखरूपता के फल-स्वरूप यह चक्र उसी परादेवी
के तेज में विश्राम लेता है, तथा अपरिमित परज्ञानात्मक प्रकाश के
कारण, उसी तेज में यह इन्द्रिय चक्र अपने अपने संस्कारों को लेकर
ही विलीन भी होता है। तथ्य तो यह है कि इस दशा में निर्मल
बनी हुई परमकला यानी परप्रमातृरूपी शिवकला ही एकाकी रूप से
विलास करती हुई दीखने में आती है ॥

आज उसी अमाकलारूप परसंवित्ति की अनर्गला अनुग्रह शक्ति से
श्री काली भगवती के आठवें विकास का निर्णय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

॥ ओम् ॥

परमार्ककाली

नौवां विकास

आठवें विकास तक प्रमाणांश का भक्षण करने में लगी हुई
निर्णय हुआ। अब इस नौवें विकास से प्रमातृपद का चर्वण करने
कालियों का वर्णन आरम्भ करते हैं। इस प्रस्तुत विकास में प्रथम
संविदीश्वरी की अवस्था प्रमातृगत सृष्टिचक्र में वर्णन करेंगे।

हम पूर्व कह आये हैं कि मार्तण्डकाली की अवस्था में समस्त द्व
इन्द्रियों रूपी सूर्य-समूह अहंकार नाम वाले परमादित्य स्वरूप में
विलीन हो जाता है। इस के पश्चात अहंकार नामी तेरहवां परमा
प्रमातृभाव की ओर संपूर्ण रूप से सन्मुख बनता हुआ ही उसी प्रमातृ
साथ तदाकार बन जाता है। इस भांति पारमेश्वरी संवित् अहंकार न
परमादित्य को भी अपनी भितप्रमातृसंवित्ति में विलीन करने के हेतु
"परमार्ककाली" के स्वरूप को उल्लसित करती है। यहां यह बात ध्य
योग्य है कि इस प्रस्तुत विकास में जो ज्वलन्त परिमित-प्रमातृदशा व
है (जिस का अन्य नाम परमार्ककाली भी है) पाठक-गन कहीं भूल
अवस्था को विषयोपाधि-परिच्छिन संसार-दशावर्ती सर्वजनसाधारण परि
प्रमातृदशा न मान बैठें। यह ठीक है कि इस अवस्था में भी पशु
अंशांशिकारूप से अवस्थित है ही, किन्तु फिर भी इस परिमितप्रमातृदशा
और जीवगत परिमितप्रमातृदशा में आकाश-पाताल का अन्तर अवस्थित
इस प्रस्तुत परिमितप्रमातृदशा में संस्कारमात्र से भी विषय और इन्द्रियों
उपाधि विद्यमान् नहीं है। केवल इन्द्रियों की उपाधि से रहित प्रमातृप्रकाश
निर्विकल्प रूपतया प्रकाशमान बना हुआ है।

इसी अभिप्राय को समक्ष रख कर आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने भी
इस कोटि की परिमितप्रमातृसंवित्ति को कालाग्निरुद्र कह कर वर्णित किया है।

आचार्यपाद ने तंत्रालोक में कालाग्निरुद्र-दशा का वर्णन निम्न श्लोक
में किया है :—

इस भांति कालाग्निरुद्ररूप वह कल्पित प्रमाता विश्वभेदैकशोभित अनन्तविकास से युक्त परप्रमातृरूपी पूर्णाहन्ताविमर्शघन बनीं हुई महा काली में ही सदा के लिये लय हो जाता है। अतः यही अवस्था जगदम्भा कालिका भगवती का [illegible] न माना गया है। कहा भी है।

इमापीतपतङ्ग-
पतद्
ति या विश्व-
प्र
अस्तोदितद्वादश
प्रशान्तधाम्नि

"भैरव-रूपी कालः सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम्।
इच्छावशेन यस्याः सा त्वं भुवनाम्भिके जयसि" ॥

अर्थात् जिस परमेश्वरी संवित् शक्ति की अनर्गल इच्छा से ही
श्वर काल देव ब्रह्मा से लेकर कीड़े तक समस्त जगत की रचना करता है;
जगदम्भा जयनशील हों। अभिप्राय यह है कि परप्रमातृ रूपी तेज-
र पहुँच कर योगी पंच-कृत्यकारित्वपद को प्राप्त करता है। भाव यह है कि
ांति परमशिव स्वभावतः ही पञ्चकृत्य करने में रसिक बना हुआ रहता है,
ांति इस अवस्था को प्राप्त हुआ योगी भी पञ्चकृत्य करने में तत्पर बना
। अस्तु। पूछा जा सकता है कि इसे कालाग्निरुद्रकाली का नाम-करण
कर दिया गया है। इसका उत्तर यही है कि इस कोटि में आकर
लाग्निरुद्र नाम वाला मितप्रमाता भी परप्रमातृसंवित्ति में ही लय हो जाता है।
ी अभिप्राय से क्रमस्तोत्र शास्त्र के नीचे दिये गये श्लोक में भी इस अवस्था
स्तुति कालाग्निरुद्रकाली के नाम से ही की गई है :—

कालक्रमाक्रा
कालाग्नि
नक्तं
काल

१० कालाग्निरुद्रकाली

"कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र-
क्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां
तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥१०॥

सम्बन्धः

कालक्रम—आक्रान्त—दिनेशचक्र-क्रोड़ीकृत---अन्ताग्निकल
उग्रः कालाग्निरुद्रः यस्यां लयमेति तां कालानलरुद्रकालीं नौमि

कालाग्निरुद्र नामवाली जिस कल्पित प्रमातृरूपा संवित्ति ने
करने वाले काल के सृष्टि आदि पांच कृत्यों से आक्रान्त बने हु
आदित्यरूपी प्रमाणमण्डल को अपनी ही स्वात्माग्नि में संहृत किया है।
इस समस्त प्रमाणार्कमण्डल को अपने में विलीन करने से जो भयंकर तेज
से युक्त बनी हुई है, वही मितप्रमातृ-रूपा कालीदेवी भी जिस परा का
लयीभूत होती है, उस परम-तेज-संपन्न कालाग्निरुद्र नामक प्रमाता का भी
करने वाली देवी कालाग्निरुद्र काली की मैं स्तुति करता हूँ—अर्थात् देह
पुर्यष्टक आदि अनात्मवर्ग में ठहरी हुई अहन्ता को उसी परमतेजा
करता हूँ।

इस प्रकार पराभगवती के दसवें विकास में प्रमातृगत स्थितिरूप
निर्णय भी समाप्त हुआ॥ ओम ॥

★≫※≪★

❀ महाकालकाली ❀

ग्यारहवां विकास

प्रस्तुत विकास में पराकाली देवी का स्वरूप प्रमातृपद के संहारचक्र में विवेचन किया जाता है। दसवें विकास में वर्णित परप्रमातृरूप स्वात्मसंवित्ति में सब ओर से देदीप्यमान तथा पूर्णाहन्तात्मक चमत्कृति से युक्त बनी हुई व्यापिनी पारमेश्वरी ही सर्वसर्वरूपता से ही प्रकाशमान है। इस अवस्था में पदार्पण करने पर योगी अलंग्रास-

भैरवात्मक स्थिति का अनुभव स्वयं ही करने लगता है । इस अवस्था में समस्त भाववर्ग का निःसंस्काररूप से प्रशमन हो जाता है । अतः यह होता है कि स्वात्मसंवित्ति सर्वतः परिपूर्ण बनी हुई दृष्टिगोचर है । पर इस परप्रमातृदशा में ठहरी हुई महाकाली भगवती स्वभावभूत अकुल-धाम में प्रविष्ट होने के लिये लालायित रहती एवं यह परादेवी अपने ग्यारहवें विकास को जन्म देती है । स्था की प्राप्ति पर योगी काल-कलना का उल्लंघन करता हुआ नाम वाले स्थान पर आरूढ हो जाता है, तथा इस भांति लिए अकालकलित बन जाता है ।

इस समना दशा में आकर काल साम्य-अवस्था में ठहरता तो यहां आकर काल अपनी सत्ता पूर्णरूप से खो बैठता है । य यह है कि इस दशा की प्राप्ति पर योगी को अनन्त काल भी तुल्य प्रतीत होता है । इस समनारूपी पदवी को समक्ष रख कर ाचार्य उत्पलदेव जी महाराज ने भी अपने स्तोत्र में कहा है—

"न सदा न तदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत् ।
तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा ॥,,

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि हे प्रभो ! (जिस अवस्था में) न सदा होने वाली, न उस विशेष समय पर होने वाली, और न युगपद्रूप से होने वाली—इस प्रकार के काल को रचने वाली बुद्धि विद्यमान नहीं है । वही आप के स्वरूप का यथार्थ दर्शन है, जिसे न तो नित्य ही कह सकते हैं और न अनित्य ही कहा जा सकता है ।

इसी अभिप्राय से क्रमस्तोत्र में भी इस अवस्था को कालकलनाशून्य होने के कारण महाकालकाली के नाम से विभूषित किया है । क्रमस्तोत्र का निम्नश्लोक इसी काली भगवती का परिचायक है :—

११ महाकालकाली

"नक्तं महाभूतलये श्मशाने
दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम् ।
कालीं महाकालमलं ग्रसन्तीं
वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम् ॥

महाभूतलये श्मशाने नक्तं दिक्खेचरीचक्र- गणेन साकम् महाकालम् अलं ग्रसन्तीम् अनिल अनलाभाम् अचिन्त्या कालीम् वन्दे—इति संबन्धः ॥११॥

भाव यह है कि भेदप्रथारूपी-बाह्यप्रकाशशून्य महार जहां पांच महाभूत भी पूर्णरूप से विलीन हो गये हैं, या अवस्था में देहप्रमातृता, प्राणप्रमातृता, पुर्यष्टकप्रमातृता और शून्य सर्वभाव से संहृत हुए हैं—इस प्रकार के अन्तः प्रकाशपूर्ण हृदयरूपी में ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के स्थान में विराजती हुई जो चिन्म देवी ब्राह्मयादिरूपखेचरी शक्तियों सहित परप्रमातृरूप महाकाल को सर्वभाव से निगलती है अर्थात् स्वात्मसात् करती है, एवं इस रीति जो वायु और अग्नि के तुल्य बनी हुई देदीप्यमान् अचिन्त्यमहिम से युक्त तथा महाकाल को भी ग्रास करने के फलस्वरूप महाकालकाली नाम वाली भगवती है, उसी को मैं प्रणाम करता हूँ यानी उसी के अचिन्त्य स्वरूप में समावेश करता हूँ ॥ ११ ॥

आज जगज्जननी की अनुकम्पा से प्रमातृपदान्तर्गत संहार चक्र में स्थित पराभगवती के ग्यारहवें विकास का निर्णय समाप्त हुआ

* महा-भैरव-घोर-चण्डकाली *

बारहवां विकास

...त्य-...

...इमापीतपतङ्ग...

...पत...चमत्कृतिमयी काली देवी के इस अन्तिम विकास में
...ति या विश्व...में स्थित अनाख्यचक्र की सर्वोच्च अवस्था को वर्णन किया

...अस्तोदितद्वादश...परप्रमातृरूप काली देवी की जिस अवस्था का वर्णन हम ने
...में किया है, वही अवस्था इस अनाख्यधाम में आकर
...प्रशान्तधाम्नि...को प्राप्त करके सम्यग् रूप से प्रतिफलित होती है, यानी अपने
...ास को प्राप्त करती है। इस दशा में स्फारीभूत बनी हुई यह
...कालक्रमाक्रा...रूपा चमत्कृति पूर्ववर्णित सम्पूर्ण अवस्थाओं को जन्म देती है।
...को अपने स्वरूप में स्वात्मसात् करने के हेतु—उनकी आश्रयस्थान
...काली...हुई है। इतना ही नहीं, अपितु यहाँ आकर प्रमाता, प्रमाण,
...ा उनकी सृष्टि आदि चक्रमण्डलवर्त्ती देवियां उदय भी करती हैं
...स्त भी हो जाती हैं। इन सभी अवस्थाओं को उदय करने के
...नक्तं... यही परप्रमातृरूपा परादेवी पूर्णरूपा कही जाती है, तथा पुनः इन
...र्णित अवस्थाओं को अपने में समा लेने पर यही दुर्घटसंपादनात्मिका
...काली...श्वरी कृशरूपा मानी गई है। क्योंकि इस अनाख्य-चक्र की कोटि पर
...हुच कर इस में केवलमात्र कालसंकर्षिणी कला ही विद्यमान् रहती है।
इसी श्री कालसंकर्षिणी धाम की ओर संकेत करते हुए श्री अभिनवगुप्ताचार्यपाद
ने भी तन्त्रालोक में कहा है :—

"इत्थं द्वादशधा संवित्तिष्ठन्ती विश्वमातृषु
एकैवेति न कोऽस्यस्याः क्रमस्य नियमः क्वचित् ।
क्रमाभावान्न युगपत्तदभावात्क्रमोऽपि न
क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम् ॥"

आशय यह है कि प्रमातृरूप से युक्त बारह स्वरूपों वाली संवित् देवी विश्वमातृगण में, यानी प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयरूप चक्रों में ठहरी हुई भी वस्तुतः एक ही स्वरूप से युक्त है। इस पारमेश्वरी देवी का वास्तव में किसी भी स्थान या अवस्था में कोई क्रम नहीं किन्तु यह भी नहीं कह सकते कि क्रम के अभाव होने से स्थान में अक्रमता यानी युगपद्भाव है। इस में युगपद्भाव भी नहीं से तो संवित्-देवी का यह सुनिर्मल उत्तमोत्तम स्थान क्रम एवं अक्रम से दूर— बहुत दूर स्थित है। यानी इस क्रमाक्रमरूपता को उल्ल ही यह भगवती कालीदेवी का सर्वोत्तम स्थान देदीप्यमान बन

अस्तु यहाँ यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि देवी का नाम 'महाभैरव घोर-चण्ड-काली" किस अभिप्राय से है। इस का समीचीन उत्तर यही है कि यह प्रमाता, प्र प्रमेयगत चक्रों में ओतप्रोत प्रकाशित बनी हुई है। तथा स्वरूप में लय भी करती है और इन्हें अपने स्वरूप में प्र करती है। इसी अभिप्राय को जतलाने के लिये क्रमस्तोत्र के भी इस कालिका भगवती के "चण्ड, घोर और महाभैरव" विशेषण अति आदर से प्रयुक्त किये गये हैं। 'चण्ड' पद से 'घोर' शब्द से प्रमाणचक्र और 'महाभैरव' शब्द से प्रमातृचक्र संकेत किया गया है। इत्यतः प्रमेयचक्र, प्रमाणचक्र तथा प्रमा कवलन यानी महाग्रास करने से इस परा अनाख्यरूपा काली को "महाभैरवघोरचण्डकाली" के नाम से अलंकृत किया गया है। स्तोत्र के निम्नलिखित श्लोक में इस महाभैरवी की स्तुति की गयी है

१२ महाभैरव-घोर-चण्डकाली।

"क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्र-
सञ्चारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरव घोर चण्ड-
कालीं कलाकाशशशाङ्ककांतिम्" ॥ १२॥

"क्रमत्रय-त्वाष्ट्र-मरीचिचक्र-सञ्चार-चातुर्य-तुरीय-सत्ताम् कला-
आकाश-शशाङ्क-कान्तिं महा-भैरव-घोर-चण्ड-कालीम् (अहं)
इमापीतपते.—इत्यन्वयः ॥ १२ ॥

श्लोक का भाव यह है कि प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता
तीन क्रमों से देदीप्यमान बने हुए सूर्यसंबन्धि द्वादशमरीचि-
सञ्चार अर्थात् विश्वविकासात्मक स्फुरता की पाटवता से जो
संविच्चक्रेश्वरी अनाख्यरूप तुरीय-सत्ता के रूप को धारण
, तथा जिस की कालसंकर्षिणी रूपी अमा कला सर्वतः प्रभायुक्त
काश में स्थित चन्द्रमा की दीप्ति की नाईं उसी चिदाकाश
है। उसी सर्वलक्षणसंपन्न महाभैरवघोरचण्डकाली भगवती
ा करता हूँ, अर्थात् देह-प्राण-पुर्यष्टक तथा शून्य-प्र ातृपद को
में लयीभूत करके उसी कालीभगवती के अनन्त अपरिमित
द-रसप्रपूर्ण स्वरूप में समावेश करता हूँ ॥

ज संवित् देवी की अपार दया के फल-स्वरूप द्वादश-
कालियों का यह संक्षिप्त विवरण समाप्त हुआ ॥

॥ ओम् ॥

अव्ययमकुलममेयं
विगलितसदसद्विवेककल्लोलम् ।
जयति प्रकाशविभव-
स्फीतं काल्याः परं धाम ॥

इमापीतपत
पत
ति या वि

स्तोदितद्वाद

प्रशान्तधाम्नि

कालक्रमात्

काल

नक्तं

काल